

No - 057551

2043.14



# प्रमाण

वर्ष ३४

अ  
प्रे  
स

पा		शो	१
र्श		ध	२
ना		सं	७
थ		स्था	३
वि		न	
द्या			
श्र			
म			

वाराणसी-५

अंक ६

—बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी द्वारा मान्य जैन शोध-केन्द्र—

## पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान

### जैन इंस्टिट्यूट

आई. टी. आई. रोड, वाराणसी-५

सम्पादक

डा० मोहनलाल मेहता

सह-सम्पादक

श्री हरिहर सिंह

श्री धन्यकुमार राजेश

प्रस्तुत अंक में :

- |   |    |
|---|----|
| १. महावीर-वाणी—   | १  |
| २. महावीर और उनके सिद्धान्त<br>—श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री         | ३  |
| ३. जैन परम्परा में ध्यान-योग —श्री धन्यकुमार राजेश                  | ६  |
| ४. प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड<br>—डा० प्रमोदमोहन पाण्डेय        | १७ |
| ५. विश्वेश्वरकृत शृंगारमंजरी-सट्टक का अनुवाद<br>—डा० के० आर० चन्द्र | २२ |
| ६. जैन मिस्ट्रीसिज्म —प्रो० यू० ए० आसराणी                           | २७ |

वार्षिक

एक प्रति

छः रुपये

पचास पैसे

यह आवश्यक नहीं कि लेखक के विचारों से सम्पादक अथवा संस्थान सहमत हो।



जैनविद्या का मासिक

वर्ष २४

अप्रैल १९७३

अंक ६

## महावीर-वाणी

( १ )

अवण्णवायं च परंमुहस्स,  
पच्चक्खओ पडिणीयं च भासं ।  
ओट्टारिणि अपियकारिणि च,  
भासं न भासेज्ज सया स पुज्जो ॥

जो परोक्ष में किसी की निन्दा नहीं करता, प्रत्यक्ष में भी कलहवर्द्धक अंट-संट बातें नहीं बकता, दूसरों को पीड़ा पहुँचानेवाली एवं निश्चयकारी भाषा भी कभी नहीं बोलता, वही पूज्य है ।

( २ )

अलोलुए अक्कुहए अमाई,  
अपिसुणे या वि अदीणिवित्ती ।  
नो भावए नो वि य भावियप्पा,  
अकोउहल्ले य सया स पुज्जो ॥

जो रसलोलुग नहीं है, इन्द्रजाली ( जादू-टोना करनेवाला ) नहीं है, मायावी नहीं है, चुगलखोर नहीं है, दीन नहीं है, दूसरों से अपनी प्रशंसा सुनने की इच्छा नहीं रखता, स्वयं भी अपने मुँह से अपनी प्रशंसा नहीं करता, खेल-उमाशा आदि देखने का भी शौकीन नहीं, वही पूज्य है ।

( ३ )

गुणेहि साहू अगुणेहिऽसाहू,  
गिण्हाहि साहू गुण मुंचऽसाहू ।  
वियाणिया अप्पगमप्पएणं,  
जो रागदोसेहि समो स पुज्जो ॥

गुणों से साधु होता है और अगुणों से असाधु, अतः हे मुमुक्षु ! सद्गुणों को ग्रहण कर और दुगुणों को छोड़ । जो साधक अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा के वास्तविक स्वरूप को पहचानकर राग और द्वेष दोनों में समभाव रखता है, वही पूज्य है ।

( ४ )

तहेव डहरं च महल्लगं वा,  
इत्थी पुमं पव्वइयं गिहि वा ।  
नो हीलए नो विय खिसएज्जा,  
थंभं च कोहं च चए स पुज्जो ॥

जो बालक, वृद्ध, स्त्री, पुरुष, साधु और गृहस्थ आदि किसी का भी अपमान तथा तिरस्कार नहीं करता, जो क्रोध और अभिमान का पूर्णरूप से परित्याग करता है, वही पूज्य है ।

( ५ )

तेसिं गुरूणं गुणसायराणं,  
सोच्चाण मेहावी सुभासियाइं ।  
चरे मुणी पंचरए तिगुत्तो,  
चउक्कसायावगए स पुज्जो ॥

जो बुद्धिमान् मुनि सद्गुण-सिन्धु गुरुजनों के सुभाषितों को सुनकर तदनुसार पाँच महाव्रतों में रत होता है, तीन गुण्डियाँ धारण करता है और चार कषायों से दूर रहता है, वही पूज्य है ।

# महावीर और उनके सिद्धान्त

श्री देवेन्द्रमुनि शास्त्री

भारतीय इतिहास का जब हम गहराई में पर्यवेक्षण करते हैं तब महज ही परिज्ञात होना है कि आज से छत्रोत्तम सौ वर्ष पूर्व भारत की सामाजिक व धार्मिक स्थिति बड़ी विविध थी। धर्म का अदृश्यात्मिक पक्ष प्रायः गौण हो चुका था। धर्म के नाम पर कर्मकाण्ड का अधिक चलन था। बाह्य क्रियाकाण्ड और आडम्बर धर्म की श्रेष्ठता व उन्नतता का मापदण्ड बन गया था, जिसका नेतृत्व एक वर्ग-विशेष ने अपने हाथ में ले रखा था। उन्होंने धार्मिक साहित्य को सरल एवं सरस जनभाषा में न रखकर जटिल व दुरूह संस्कृत भाषा में आवद्ध कर दिया था। वे ग्रन्थ जनभोग्य न होकर विद्वद्भोग्य हो गए थे। जनसाधारण का संबन्ध उन धार्मिक ग्रन्थों से छूट गया था। उन्होंने जन्मजात जातिभेद से प्रसित होकर 'स्त्रीशूद्रौ नाधीयेताम्' प्रभृति आज्ञाएँ प्रसारित कीं जिनसे जनमानस विश्रुब्ध हो उठा। ऊँच-नीच की भावनाएँ पनपने लगीं। इस समय धर्म भावशून्य बाह्य कर्मकाण्डों और मिथ्या आडम्बरों के निविड़ बंधनों में आवद्ध किया जा चुका था।

भारत का पूर्वीय भाग मुख्य रूप से हिंसापूर्ण यज्ञ-यागादि कर्मकाण्डों का केन्द्र था। धार्मिक दासता चारों ओर अपना प्रभुत्व जमा रही थी। जनमानस उस विकृत वातावरण से ऊब चुका था और वह किसी दिव्यभय प्रकाशपुञ्ज की अपलक प्रतीक्षा कर रहा था जो उसे धर्म का प्रशस्त एवं सही मार्गदर्शन करा सके।

ऐसे समय में चैत्र शुक्ला त्रयोदशी के दिन मगध के विदेह जनपद में बँशाली के क्षत्रियकुण्ड के अधिपति राजा सिद्धार्थ और रानी त्रिशला के यहाँ भगवान् महावीर का जन्म हुआ।<sup>१</sup>

उनका बचपन जीवन के चौखट पर पहुँचता है पर उसमें न मर्यादाहीन उन्माद है, न भोगलिप्सा है और न विह्वलता ही। माता-पिता के आग्रह पर वे विवाह करके संसार में रहते तो हैं पर जल-कमलवत् निलिप्त स्थिति में।

मार्गशीर्ष दशमी के दिन तीस वर्ष की अवस्था में वे एकाकी संयम के कठोर कंडकाकीर्ण महामार्ग पर बढ़ते हैं। साधनाकाल में वे एकान्त-शान्त निर्जन स्थानों में जाकर खड़े हो जाते हैं। बिनतन की गहराई में उतरते जाते हैं। उनके साधनाकाल का रोमांचकारी वर्णन आचारांग, आवश्यक-चूर्णि, महावीरचरित, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि ग्रन्थों में विस्तार के साथ दिया गया है। महावीर की प्रस्तुत उग्र साधना जैन तीर्थंकरों के जीवन में सबसे कठोर थी। आचार्य भद्रबाहु ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है :  
“सब अर्हंतों एवं तीर्थंकरों में वर्धमान महावीर का तपःकर्म उग्र था।”

बारह वर्ष छः मास तक उन्होंने कठोर साधना में अपने को तपाया, दुःसह कष्टों को सहन किया और आधिभौतिक एवं आधिदैविक घोर उपसर्गों के ज्ञज्ञावात में भी अचल हिमालय की भांति साधना का निष्कण दीप जलाया। अन्त में वैशाख शुक्ला दशमी के दिन उन्होंने महाप्रकाश प्राप्त कर लिया। वे स्वयं ज्योतिर्मय बन गये। अल्पज्ञ से सर्वज्ञ बन गये।

भगवान् वहाँ से मध्यम पावापुरी पधारे। समवसरण की रचना हुई। सभा उपस्थित हुए। उस युग के दिग्गज विद्वान् सर्वशास्त्र-पारंगत इन्द्रभूति (गौतम) भी आये। प्रभु की तेजोदीप्त मुखमुद्रा ने पहले ही क्षण इन्द्रभूति को जीव लिया और जब प्रभु की वाणी में स्वतः उनके मानसिक संदेह का निराकरण हुआ तो वे श्रद्धा से गद्गद् हो उठे। वे प्रभु के चरणों में झुक गये, परम सत्य का दर्शन पाकर कृतार्थ हो गये। प्रभु ने इन्द्रभूति की चिन्तनधारा को नया मोड़ दिया, अनेकान्त की दृष्टि दी, सत्य को समझने के नये मान और विधान दिये। द्वादशाङ्गी के गहन ज्ञान की कुञ्जी “उपमेइ वा, विगमेइ वा, धुवेइ वा” के रूप में प्रदान की। इस प्रकार उत्पत्ति, स्थिति और विलय की यह त्रिरत्नो वामन रूपधारी विष्णु के तीन पैरों की तरह विश्व के सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान को नापने वाली सिद्ध हुई।

भगवान् महावीर कहीं-कहीं पर किस रूप में धर्म की ज्योति जगाते रहे, कौन-कौन उनके अनुयायी बने, कौन-कौन उनके प्रतिस्पर्धी थे आदि विषयों पर विस्तार से प्रकाश न डालकर मैं मूलग्रन्थों को पढ़ने की प्रबल प्रेरणा देता हूँ ।

### महावीर के सिद्धान्त :

श्रमण भगवान् महावीर ने आचार के क्षेत्र में अहिंसा की प्रतिष्ठा की । अहिंसा जैनाचार का प्राण है । अहिंसा का जितना सूक्ष्म विवेचन और विश्लेषण जैन आचार-परम्परा में उपलब्ध है उतना किसी भी जैनेतर परम्परा में नहीं । अहिंसा का मूल आधार आत्मसाम्य है । प्रत्येक आत्मा चाहे वह पृथ्वीकाय हो, अप्काय हो, तेजस्काय हो, वायुकाय हो, वनस्पतिकाय हो या त्रसकाय हो, ता त्वक दृष्टि से सभी समान हैं । सुख-दुःख का अनुभव, जीवन-मरण की प्रतीति प्रत्येक प्राणी को समान होती है; प्रत्येक को अपना जीवन प्रिय है मरण अप्रिय है, सुख प्रिय है दुःख अप्रिय है, अनुकूलता प्रिय है प्रतिकूलता अप्रिय है, मृदुता प्रिय है कठोरता अप्रिय है, स्वतंत्रता प्रिय है और परतंत्रता अप्रिय है । एतदर्थं हमारा कर्तव्य है कि हम किसी को भी कष्ट एवं बाधा न पहुँचावें । केवल तन से ही नहीं अपितु मन और वचन से भी इस प्रकार चिन्तन और उच्चारण न करें । मन, वचन और काया से किसी भी प्राणी को किञ्चित् मात्र भी कष्ट नहीं देना पूर्ण अहिंसा है । एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक यह अहिंसक भावना जैन दर्शन की अपनी मौलिक देन है ।

अहिंसा को केन्द्र-बिन्दु मानकर अमृषावाद, अस्तेय, अमैथुन और अपरिग्रह का विकास हुआ । आत्मिक विकास के लिए और कर्मबंधन को रोकने के लिए इनकी अनिवार्यता स्वीकार की गई ।

जिस प्रकार आचार के क्षेत्र में अहिंसा को प्रधानता दी गई उसी प्रकार विचार के क्षेत्र में अनेकान्तदृष्टि को मुखयता दी गई । अनेकान्तदृष्टि का अर्थ है वस्तु का सर्वतोमुखी विचार । वस्तु में अनेक धर्म होते हैं । उनमें से किसी एक धर्म का ही आग्रह न रखते हुए अपेक्षा-भेद से सभी धर्मों का समान रूप से चिन्तन करना अनेकान्तदृष्टि का कार्य है । अनेक धर्म-त्मक वस्तु के निरूपण के लिए 'स्यात्' शब्द का प्रयोग आवश्यक है । 'स्यात्' का अर्थ है किसी अपेक्षा विशेष से, किसी एक धर्म की दृष्टि से

कथन करना। वस्तु के अन्तर्गत धर्मों में से किसी एक धर्म का विचार उसी एक दृष्टि से किया जाता है। दूसरे धर्म का विचार दूसरी दृष्टि से किया जाता है। इस तरह वस्तु के धर्मभेद से ही दृष्टिभेद उत्पन्न होता है। इस अपेक्षावाद या सापेक्षवाद का नाम ही स्याद्वाद है।

स्याद्वाद जीवन के उलझे हुए प्रश्नों को सुलझाने की एक विशेष पद्धति है। उसमें न अर्धसत्य को स्थान है और न संशयवाद को ही। पर खेद है कि भारत के मूर्खन्य मनीषीगण भी स्याद्वाद के सही स्वरूप को न साझा सके। ब्रह्मसूत्र के भाष्यकार आचार्य शंकर<sup>१</sup>, भूतपूर्व राष्ट्रपति डाक्टर एस. राधाकृष्णन्<sup>२</sup>, सुप्रसिद्ध संख्यदर्शन के विद्वान् प्रो० महलो-नोविस प्रभृति विद्वानों ने स्याद्वाद को अर्द्धसत्य और संशयवाद की संज्ञा दी है। उन्हीं विद्वानों का अनुसरण अन्य अनेक साहित्यकारों ने किया है। अभी-अभी प्रकाशित 'गांधी युग पुराण' के द्वितीय खण्ड में सेठ गोविन्ददास तथा डाक्टर आमप्रकाश ने प्रस्तुत ग्रन्थ में स्याद्वाद का संशयवाद के रूप में उल्लेख किया है। ग्रन्थ की भूमिका में डाक्टर कविवर रामधारी सिंह 'दिनकर' ने भी उसी बात की पुष्टि की है। विद्वान् स्याद्वाद के सही स्वरूप को समझ सकें इसी दृष्टि से ये पक्तियाँ लिखी जा रही हैं।

जीवन का व्यवहार विधि-निषेध के युगल पार्श्वों के मध्य में होकर चलता रहता है। दार्शनिक शब्दावली में इसे सत्-असत्, एक-अनेक, नित्य-अनित्य, वाच्य-अवच्य आदि कहा गया है। व्यवहार में विधि-निषेध का क्रम चलता रहता है। प्रश्न है—विरोधी युगलों का एक ही पदार्थ में कैसे प्ररूपण किया जाय? जिस पदार्थ में जिस सत्ता को ग्रहण किया जाता है क्या उसी पदार्थ में प्रतिषेध भी हो सकता है? स्वीकार और निषेध, अस्तित्व और नास्तित्व अपने में एक कठिन समस्या है, यहीं से संशय का प्रारम्भ होता है। भगवान् महावीर ने 'स्याद् अस्त स्याद् नास्ति' के आधार से प्रस्तुत समस्या का सुलझाया है। सापेक्ष तथा निरपेक्ष उभय स्वरूपात्मक वस्तु के स्वभाव को ग्रहण करना ही यथार्थ दृष्टि है। किसी भी पदार्थ का आत्यन्तिक निषेध और आत्यन्तिक विधान नहीं होता। जिस अपेक्षा से वह है उस अपेक्षा से वह है, जिस अपेक्षा से नहीं है उस अपेक्षा से नहीं है।

१. शंकरभाष्य, २.२.३३.

२. इण्डियन फिलासफी, जिल्द १, पृ. ३०५-६.

हर एक पदार्थ में अनन्त घर्षों की सत्ता है और उस स्वभाव में वह दूसरे स्वभाव की प्रतिरोधिनी नहीं है। एतदर्थ ही विरोधी युगलों का सहअस्तित्व सहज रूप से संभाव्य है। पानी जीवन भी है और डूबने वालों के लिये संहारक भी है। अग्नि जीवन प्रदान करने वाला तत्त्व भी है और उग्ररूप धारण करने पर नाश भी करता है। ऊनी वस्त्र सर्दों में उपयोगी है और गर्मों में निरुपयोगी है। गरिष्ठ भोजन स्वस्थ व्यक्ति के लिये स्वास्थ्यप्रद है पर रुग्ण व्यक्ति के लिए हानिकारक है। इस प्रकार प्रत्येक कार्य द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की सीमा से आबद्ध है।

प्रत्येक पदार्थ में विरोधी युगल का युगपत् अस्तित्व है। उसी से व्यक्ति चक्कर में पड़ जाता है क्योंकि व्यक्ति का चिन्तन हमेशा निरपेक्ष होकर चलता है जब कि उसका हर एक व्यवहार अपेक्षा के साथ बँधा हुआ है। जिस समय पदार्थ के अस्तित्व पक्ष की विवक्षा की जाती है उस समय उसी पदार्थ के इतर पक्षों का नास्तित्व भी तो अभिवाच्य नहीं होता। केवल मुख्य और गौण का ही प्रश्न होता है।

भगवान् महावीर ने कहा है कि प्रति क्षण प्रत्येक पदार्थ में उत्पाद और व्यय होता है और साथ ही वह ध्रुव भी रहता है जिससे वह सत् असत् में नहीं बदलता।

सत्य अनुभूतिगम्य है। अनुभूति एकांशग्राही और सर्वांशग्राही उभयरूप होती है, किन्तु अभिव्यक्ति सर्वांशग्राही नहीं एकांशग्राही होती है। वह सदा एक अंश ही प्रस्तुत करती है। ज्ञान के अनन्त पर्याय हैं। व्यक्ति अपनी शक्ति के अनुसार उन्हें अधिकृत करता है। अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द है। अनुभूति की पूर्णता और अधिकता होने पर भी वह एक अंश को ही प्रस्तुत करती है। वक्ता अपनी समस्त अनुभूतियों को एक साथ व्यक्त नहीं कर सकता। जितनी वह व्यक्त करता है उतनी सुनने वाला ग्रहण नहीं कर पाता, जितना ग्रहण होता है वह अपेक्षा के साथ संयुक्त होकर होता है अतः सत्य सदा अपेक्षा के साथ बँधा हुआ है।

भगवान् महावीर ने सापेक्षवाद के रूप में स्याद्वाद का प्ररूपण किया। विज्ञान के क्षेत्र में अल्बर्ट आइन्स्टीन ने सापेक्षवाद के रूप में उसका विस्तार किया। स्याद्वाद का मुख्य विषय जड़ और चेतन रहा है, जब कि आइन्स्टीन ने उसमें आकाश और काल की योजना कर उसे विशेष आधुनिक शैली में प्रस्तुत किया है। दोनों में अद्भुत सामंजस्य है।

जिन विद्वानों ने स्याद्वाद को संशयवाद और अर्धमस्य कहा है उनका सापेक्षवाद के संबंध में यह मन्तव्य नहीं है। आश्चर्य की बात है कि स्याद्वाद और सापेक्षवाद के विवेचन में शाब्दिक अन्तर के अतिरिक्त और कोई मौलिक अन्तर नहीं होते हुए भी उन्होंने इन दोनों के सम्बन्ध में विभिन्न मत किस आधार पर अभिव्यक्त किया है ?

प्रश्न सहज ही पैदा होता है कि विज्ञों द्वारा यह भूल किस प्रकार हुई ? इसके अनेक कारण हैं। स्याद्वाद 'स्याद्' और 'वाद' इन दो शब्दों के मिलने से बना है। 'स्याद्' अव्यय है। इसके अनेक अर्थ हैं यथा—संभावना, विषय, प्रश्न, 'कश्चित्', अपेक्षा-विशेष, दृष्टि-विशेष, किसी एक धर्म की विवक्षा आदि। किन्तु खेद है कि विज्ञों ने केवल इसके संभावनात्मक अर्थ पर ही ध्यान दिया है और उसी दृष्टि से उन्होंने स्याद्वाद को संशयवाद कह भी दिया।

आचार्य शंकर के समय शास्त्रार्थ परम्परा थी और उसमें एक-दूसरे का खण्डन-मण्डन प्रमुख रूप से चलता था। स्याद्वाद का उपहास करने की दृष्टि से उन्होंने उसे 'संशयवाद' के रूप में उपस्थित किया जो सर्वथा गलत था।

भूतपूर्व राष्ट्रपति डा० एम० राधाकृष्णन्, प्रो० महलोनोवीस, डाक्टर रामधारी सिंह 'दिनकर', डा० सेठ गोविन्ददास आदि परिहास की परम्परा से बहुत ही दूर हैं तथापि आचार्य शंकर के द्वारा कथित संभावनात्मक अर्थ से किञ्चित् मात्र भी दूर नहीं हट पाये हैं। शब्दों के हेरफेर के साथ अपने ग्रन्थों में व लेखों में वही दुहराते रहे हैं। खेद है कि हम अपनी दृष्टि से किसी भी विषय के अन्तस्तल तक नहीं पहुँचते और पुरानी लकीर के ही फकीर बने हुए हैं। विद्वानों को चाहिए कि प्राचीन ऋटियों को न दुहराकर स्याद्वाद के सही स्वरूप को समझें।



# जैन परम्परा में ध्यान-योग

श्री धन्यकुमार राजेश

आचार्य हरिभद्रसूरि ने योग के पाँच प्रकार बताये हैं : अध्यात्मयोग, भावनायोग, ध्यानयोग, समतायोग तथा वृत्तिसंक्षययोग । योग के इन प्रकारों में उन्होंने ध्यानयोग को सर्वश्रेष्ठ बताया है क्योंकि इसी के माध्यम से केवलज्ञान तथा मोक्ष की प्राप्ति होती है ।<sup>१</sup> प्रस्तुत लेख में ध्यानयोग का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है ।

## ध्यान का स्वरूप :

जैन परम्परा के अनुसार कर्मस्त्रियों का कारण योग है ( कायवाङ्मनः-कर्म योगः ) । अतः योग का निरोध ध्यान की अनिवार्य शर्त है । ध्यान का स्वरूप निर्देश करते हुए जैनाचार्यों<sup>२</sup> ने चित्त की एकाग्रता से उत्पन्न निश्चल अग्निशिखावत् प्रतीत होने वाले ज्ञान को ध्यान कहा है । वैदिक दार्शनिकों ने चित्तवृत्तियों के पूर्ण निरोध के उपरान्त आत्मज्योति के दर्शन

१. अध्यात्म भावना ध्यानं समता वृत्तिसंक्षयः ।

मोक्षेण योजनाद्योग एष श्रेष्ठो यथोत्तरम् ॥

—योगबिन्दु, ३१; द्रव्यसंग्रह, ४७.

२. एकाग्रचित्ता योगनिरोधो वा ध्यानम् ।—जैन सि० दी० ।

एकाग्र-ग्रहणं चाऽत्र वैयग्रयविनिवृत्तये ।

व्यग्रं हि ज्ञानमेवस्याद् ध्यानमेकाग्रमुच्यते ॥—तत्त्वानुशासन, ५६, ६७.

जं थिरमञ्जवसाणं तं ज्ञाणं जं चलं तयं चित्तं ।

तं होउज्ज भावगा वा अणुपेहा वा अहव चित्ता ॥—ध्यानशतक, २.

ज्ञानमेवाऽपरिस्पन्दाग्निशिखावदवभासमानं ध्यानमिति ।

—सर्वार्थ०, ६.२७; द्रव्यसंग्रह, ४८.

को ध्यान की सर्वोत्कृष्ट अवस्था बताया है।<sup>१</sup> अर्थात् जब रागादि विषय कषायों<sup>२</sup> की समाप्ति होकर मन अन्तर्मुखी हो जाय। बौद्धों ने ध्यान की इस स्थिति को विक्षेपों का विलयीकरण कहा है।<sup>३</sup> जैनशब्दावली में इसे मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति कहा जा सकता है क्योंकि ध्यान में ध्याता और ध्येय का एकीकरण होने से चिद्, अविनाशी, परम प्रकाशी, ज्ञानमयी आत्मा का ही ध्यान किया जाता है और जिसकी प्राप्ति के लिए ध्यान से अन्तर्मुखी शक्ति को जाग्रत किया जाता है।

### ध्यान के प्रकार :

जैन परम्परा में ध्यान के अनेक भेद-प्रभेदों का उल्लेख मिलता है। प्रमुख रूप से ध्यान के चार भेद हैं : आर्त, रौद्र, धर्म और शुक्ल। आचार्य सोमदेव ने सबीज और निर्बीज<sup>४</sup>, आचार्य शुभचन्द्र ने पापरूप, पुण्यरूप और शुद्धोपयोगरूप से ध्यान का वर्गीकरण किया है। ध्यान के उपयुक्त चार प्रमुख भेदों के भी अनेक भेद बताये गये हैं।<sup>५</sup> बौद्ध परम्परा में भी

१ ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्देवात्मशक्तिं स्वगुर्णनिगूढाम्—श्वेता० उप०, १.३, २.८. १५; ध्यानबिन्दूपनिषद्, १४.३७; ब्रह्मबिन्दूपनिषद्, ५; यागाश्चत्तवृत्तिनिरोधः—पातञ्जल योग०, १.२; तत्र ध्यानजमनाशयम्—वही, ४. ६; तत्र प्रत्ययैकतानताध्यानम्—वही, ३.२; कठोपनिषद्, २.३. १०-१३.

२. रागोपहृतिध्यानम्—सांख्ययोग, अ० ३.

३. एकारम्भणे चिल चैतसिकसमं च आधानम्।—विसुद्धिमग्ग.

४. बहिरन्तस्तमोवातैरस्पन्दं दीपवन्मनः।

यत्तत्त्वालोक नोल्लासि तत्स्याद्ध्यानं सबीजकम् ॥

निर्विचारावतारामु चेतः स्रोतः प्रवृत्तिषु।

आत्मन्येव स्फुरन्नात्मा भवेद् ध्यानमबीजकम् ॥

—उपासकाध्ययन, ३९.६२२-२३.

५. आर्त—अमनोज्ञसंप्रयोगसंप्रयुक्त, मनोज्ञ सं० सं०, अतच्छु सं० सं०, कामरूपादि सं० सं०। रौद्र—हिसानन्दी, मृषानन्दी, अस्तेयानन्दी, परिग्रहानन्दी। धर्मा—आज्ञा, अपाय, विपाक, संस्थानविचय। शुक्ल—पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, समुच्छिन्न

जैनमत की तरह ध्यान के अनेक भेद-प्रभेदों का निर्देश है : यथा—आरम्भण, उपनिज्ज्ञान और लक्खणउपनिज्ज्ञाण । आरम्भण के आठ तथा लक्खण के तीन भेद हैं।<sup>१</sup> सुतपिटक में ध्यान के चार तथा अभिधम्मपद में पाँच भेद मिलते हैं। इस मत में विपस्सना का वही स्थान है जो जैनमत में समुच्चिन्नक्रियाध्यान ( शुक्लध्यान ) का है ( यद्यपि प्रक्रिया एवं मूल अवधारणा में अन्तर है )। वैदिक परम्परा में जो ध्यान के भेद-प्रभेद वर्णित हैं उनका जैनमतानुसार धर्मध्यान में समावेश हो सकता है।

**ध्यान के हेतु**—ध्यान की दुरूह प्रक्रिया पाँच बातों पर निर्भर है : वैराग्य, ज्ञानसम्पदा, निष्परिग्रहता, चित्त की स्थिरता, और मद सहन की क्षमता।<sup>२</sup> उक्त पाँच हेतुओं से ध्यान-प्रक्रिया निर्वाधित ढंग से चलती रहती है। इनमें से किसी एक का भी अभाव होने पर ध्यान अप्रशस्त बन जाता है। अतः ध्याता को हेतुओं की पूर्णता के लिए मानसिक तैयारी कर बाधक हेतुओं का निराकरण करना चाहिए<sup>३</sup> क्योंकि जब तक ध्यान के हेतु उर्दीपित नहीं होंगे, ध्यान का उद्देश्य प्राप्त नहीं किया जा सकता।

**ध्याता**—ध्यान साधना मोक्ष का कारण होने से प्रत्येक को सहज साध्य नहीं है बल्कि आपेक्षिक योग्यता सम्पन्न व्यक्ति ही ध्यान की साधना कर सकता

क्रियानिवृत्ति। वैदिकमत में प्राणायामादि विधि से भेद हैं जो जैनमत से संस्थानविचय की सीमा में हैं। योगविवरण में पिण्डस्थ, पदस्थ, रूपस्थ, अरूप से भेद हैं। इनकी धारणाएँ भी हैं जैसे—पिण्डस्थ की पृथ्वी, आग्नेयी, श्वसना, वारुणी, तत्त्वरूपवती।

१. देखें—विमुद्धिमग्ग, परि० १० तथा अभिधम्मत्थ०, १.२१. ध्यान—आरम्भण आठ प्रकार का—चार रूपाचर, चार अरूपाचर। लक्खण के तीन भेद हैं—विपस्सना, मग्ग और फल। विपस्सना में निर्वाण का विशिष्ट रूप है। इसमें विषय वस्तु के लक्षणों पर विचार किया जाता है तथा सात प्रकार की विशुद्धि से युक्त है।

२. वैराग्यं ज्ञानसम्पत्तिरसङ्गः स्थिरचित्तता ।  
ऊमिस्मयसहत्वं च पञ्च यागस्य हेतवः ॥

—उपासकाध्ययन, ६३४.

३. वही, ६३५. मानसिक क्लेश, विररीत बुद्धि, शारीरिक अक्षमता, गलत आचरण, योग में निरुत्साह।

है। जैनाचार्यों ने ध्याता की योग्यता<sup>१</sup> का निर्देश करते हुए लिखा है कि ध्यान साधना के लिए उत्तम संहनन, शुभ लेश्या<sup>२</sup>, प्रसन्नचित्त, इन्द्रियजयी, रागादिविकारों से रहित, अप्रमत्त, धीर एवं दृढ़मंजला<sup>३</sup> होना आवश्यक है। इसके बिना उत्तम ध्यान नहीं हो सकता। वैसे तो कोई भी सामान्य स्थिति का धारक ध्यान कर सकता है लेकिन इन्द्रियलयता का व्यापार उत्तम गुणस्थान में ही संभव है जहाँ कि पूर्ण योग निरोध होने पर केवलज्ञानमया आत्मा का दर्शन होता है ( मिलाएँ—गीता २.५५ )।

### ध्यान का उपयुक्त स्थान :

ध्यान की सिद्धि उपयुक्त स्थान में आसन लगाने से होती है अन्यथा अन्तराय के कारण ध्यानयोग निष्फल हो जाता है।<sup>४</sup> ध्येयार्थी के लिए

१. उत्कृष्टकायबन्धस्य साधोरन्तर्मुहूर्तः ।

ध्यानमाहुरर्थेकाग्र चिन्तारोधो बुधोत्तमाः ॥—ज्ञानार्णव.

बज्रसंहननोपेताः पूर्वश्रुत-समन्विताः ।

दद्युःशुक्लमिहाऽतीताः श्रेण्यारारोहणक्षमाः ॥

—तत्त्वानुशासन, ३५, ४१-४५.

अप्रमत्तः प्रमत्ताश्च सद्दृष्टिर्देश संयतः ।

धर्मध्यानस्य चत्वारस्तत्त्वार्थे स्वामिनःस्मृताः ॥

—वही, ४६; ज्ञानार्णव, २१.

संविग्नः संवृतो धीरः स्थिरात्मा निर्मलाशयः ।

सर्वावस्थासु सर्वत्र सर्वदाव्यानुर्महति ॥—वही, २८.२१.

२. शुभलेश्या—गोम्मटसार ( जीवकांड ), ५०८, १४-१५, ३१. शुभलेश्या से धर्म-शुक्ल ध्यान तथा अशुभ से आर्त्त-रोद्र ध्यान ।

३. श्वेता० उप०, २.२.

४. अनुपयुक्त स्थान—विद्रवन्ति जनापापाः सञ्चरन्त्यभिसारिकाः ।

क्षोभयन्तीङ्गिता कारंर्यत्रनार्योपिशङ्किताः ॥

—ज्ञाना०, २७.३० तथा २७.२३-२६.

म्लेच्छ राज्य, पाखंडियों का आवास, व्यभिचारियों के संकेत-स्थल, शिल्पी, मोची, कारीगर लुहार का आवास, घुड़शाला, अंमहीनों एवं सेना का पड़ाव.

आचार्यों ने ध्यान योग्य स्थानों का निर्देश इस प्रकार किया है :<sup>१</sup> सिद्धश्रेत्र, नदी-समुद्रतट, पर्वतशिखर, वृक्षकोटर, श्मशान, गुफा, चैत्यालय, वन, शून्य-घर, ग्राम-उपवन, वर्षा-आतप हिम वर्जित क्षेत्र (ज्ञाना०, २८.२-७), समतल भूमि तथा नीरव स्थान (श्वेता०, २.१०) ।

**आसन :** ध्यान साधना के लिए सभी दार्शनिकों ने आसन की उपयोगिता स्वीकार की है। उनके मत से ध्याता को ध्येयसिद्धि हेतु (इन्द्रियजयता का कार्य) आसन का चयन सुविधानुसार करना चाहिए।<sup>२</sup> जैन परम्परा में ध्यान हेतु कतिपय आसनों का उल्लेख इस प्रकार किया गया है : पर्यङ्क, अर्धपर्यङ्क, वज्रासन, वीरासन, सुखासन, कमलासन, कायोत्सर्ग (ज्ञानार्णव, २८.१०), गोदोहिक, कुक्कुटासन, भद्रासन, मत्स्येन्द्रासन, पद्मासन, कन्दपीडासन, उत्कटकासन, हस्तिशुण्डिका, भुजंगासन, लकुटासन, आम्रकुब्जिकासन, अवमस्तकशयन, धनुरासन, एकपाशर्वशयन, समपाद, एकपाद, गृधोड्डो न आदि (देखें—मनोनुशासनम् तथा योगप्रदीप)। सर्वोत्तम सुखकारी आसन पद्मासन है। अनेक तीर्थङ्करों एवं भव्यों ने इसी आसन से मोक्ष प्राप्त किया है।<sup>३</sup>

ध्यान उत्तर या पूर्वदिशाभिमुख होकर करना चाहिए। ध्यान के समय ध्याता के नेत्र निमीलित तथा शरीर किञ्चित् अग्रावनत होना चाहिए। सामान्यतया ध्यान किसी भी समय किया जा सकता है किन्तु ब्राह्मणहृतं, मध्याह्न एवं रात्रि के प्रथम प्रहर में करना लाभदायक है। ध्यान की समय-

१. सभे शुचोशकंरा वल्लिवालुका विवर्जिते शब्द जलाश्रयादिभिः । मनो-  
नुकूले न तु चक्षुषीङ्गे गुहानिवाता श्रयणे प्रयोजयेत् ॥—श्वेता०, २.१०;  
तथा मनोनुशासनम्—ग्रामागार-शून्यगृहश्मशानगुहोपवनपर्वततटमूल  
पुलिनानि ध्यानस्थलानि ।

२. येन केन सुखासीना विदध्युनिश्चलं मनः । तत्तदेव विधेयं स्यात्  
मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥—ज्ञानार्णव; गीता, ६.१३; गोरक्षाशतक, ६५;  
त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरं हृदीन्द्रियाणि मनसा सनिहृद्य । ब्रह्मोड्डोपेन-  
प्रतरेत विद्वान्स्रोतांसि सर्वाणि भयावहानि ॥—श्वेता०, २.८

३. पांडव पु०, २५.१४८.

सीमा छपर्यो के लिए एक अन्तमुहूर्त है।<sup>१</sup> इसके बाद ध्यान बदल जाता है।

### ध्यानस्थ योगी की दशा :

ध्यान का उद्देश्य मन को वश में करके आत्मउप्योति का दर्शन करना है अतः ध्याता को विरागी तथा शान्त होनी चाहिए। यही नहीं, उसे किसी प्रकार से सुख-दुःख की कल्पना भी नहीं होना चाहिए।<sup>२</sup> एक प्रकार से उसकी वृत्ति निरालम्बन<sup>३</sup> जैसी दशा को प्राप्त हो जाना चाहिए क्योंकि सांसारिक सुख की चाहना न होने से योगी सदैव योगनिद्रा में लीन रहता है<sup>४</sup> और जो योगी जागता है उसे ध्यानयोग की सिद्धि कदापि सम्भव नहीं है। योगी के भोजन-पान के सम्बन्ध में यद्यपि यह मत है कि उसे किसी प्रकार की आसक्ति नहीं होनी चाहिए लेकिन इसका आशय यह नहीं कि वह भोजन ही छोड़ दे।<sup>५</sup> हालांकि अधिकांश दार्शनिक मत, यहाँ तक कि जैन दार्शनिक भी योगी को अनशन का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं।

### ध्यान की प्रक्रिया :

पूर्व दिशा की ओर मुख करके बैठा हुआ ध्याता ध्यान-प्रक्रिया का प्रारम्भ प्राणायाम से करे।<sup>६</sup> जैन परम्परा में यद्यपि प्राणायामादि अधिक

१. अन्तोमुहुनमेत्तं चित्तावत्थाणमेग वत्थुंमि । छउमत्थाणं ज्ञाणं जोग-  
निरोहो जिणाणं तु ॥—ध्यानशतक, ३.

२. तत्कृतेऽपि परमार्थवेदिनो योगिनो न सुखदुःखकल्पना ।

—पद्मानन्दि, पञ्चवि०, सद्बोध०, २१.

३. वही, २२; तथा धर्मोपदेशामृतम्, १५४.

४. जा णिसि सयलहं देहियहं जोगिउतहिं जग्गेइ ।

जहिं पुणु जग्गइ सयलु जगु सा णिसी माणिवि सुवेइ ॥

—परमात्मप्रकाश, ४६.

५. प्रातःस्नानोपवासादिकायकलेशविधिविना ।

घेरण्डनीहिता—एकाहारं निराहारं यामत्ति च न कारयेत् ॥

—५.३० तथा ५.२६; मिलाएँ—गीता, ६.१६.

६. सूक्ष्मप्राणयमायामः सन्नसर्वाङ्गसंचरः ।

प्रावोत्कीर्णं इवासीत् ध्यानानन्द सुधां लिहन् ॥—उपासकाध्ययन, ६१४.

महत्स्वपूर्ण नहीं हैं<sup>१</sup> फिर भी, प्रारम्भिक भूमिका में जो कि धर्मध्यान की साधना में सहायक हैं, उनका महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस स्थिति में ध्याता बाहर से पत्थर की तरह स्थिर प्रतीत होता है और अन्दर से अलक्ष्य का लक्ष्य साधता है।<sup>२</sup> इस प्रक्रिया में मन को स्थिर करना आवश्यक है (परमात्मप्रकाश, १५६, १५६; आराधनासार, ६६)। ध्याता ध्यान का प्रारम्भ सालम्बन से निरालम्बन की ओर करे। दूसरे शब्दों में पदस्थ, पिडस्थ, स्वरूपस्थ से होता हुआ रूपातीत की ओर बढ़े। ध्यान के इन पदों में ध्याता अष्टकमलदल, भ० अरहंतदेव आदि की कल्पना कर चित्तवृत्ति को एकाग्र करता है और क्रमशः रूपातीत (निर्विकला) की ओर बढ़ता जाता है।<sup>३</sup> ध्यान की इस प्रक्रिया में द्वादश अनुपेक्षा भावनाएँ एवं अन्य धार्मिक स्तुतियाँ उसे उद्दीपना प्रदान करती हैं। वैदिक मत में सविता की अनुज्ञा उद्दीपन में सहायक है (श्वेता०, २.७)। ध्याता ध्यान की प्रारम्भिक भूमिका में धर्मध्यान के पदों का अनुसरण करता है, अर्थात् आज्ञाविचय, अगायविचय, विशाकविचय और संस्थानविचय जो धर्मध्यान के भेद हैं। ध्यान करता हुआ शुक्लध्यान की ओर बढ़ता है (पृथक्त्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति, समुच्छिन्नक्रियानिवृत्ति)। चूंकि आज संहनन का अभाव होने से शुक्लध्यान का निषेध<sup>४</sup> है, अतः ध्याता धर्मध्यान की ही साधना कर सकता है।

### ध्यान का आलम्बन :

तात्त्विक दृष्टि से ध्येय और ध्याता में ऐक्य स्थापित है (तत्त्वानुशासन, ७०, ११८), फिर भी जब तक ध्याता इस ऐक्य की स्थिति में नहीं पहुँच जाता, ध्यान की पुष्टि हेतु कतिपय आलम्बनों का निर्देश किया गया है :

१. प्राणायामक्रियातश्च मोक्षप्राप्तिप्रदर्शना । वन्द्यानुत्रसमा सा च ज्ञातव्या सर्वसञ्जनैः ॥—योगप्रदीप (मंगलविजयकृत), २६६, पृ० ४३१; प्राणायामे च द्रव्येण कर्तव्ये वायुयोगतः । क्षणिका देहशुद्धिः स्यादतो लाभो न चात्मनि ॥—वही, ३१६, पृ० ४३३.
२. अलक्ष्यं लक्ष्यं संबन्ध्यात् स्थूलात्सूक्ष्मं विविन्तयेत् ।  
सालम्बाच्च निरालम्बं तत्त्ववितत्वमञ्जसा ॥—ज्ञानार्णव, ३३.४.
३. द्रव्यसंग्रह, ४८, ४९, ५१.
४. अत्रेदानीं निषेधन्ति शुक्लध्यानं जिनोत्तमाः ।  
धर्म्यध्यानं पुनः पाहुः श्रेणिभ्यां प्राग्वर्तिनाम् ॥—तत्त्वानुशासन, ८३.

जैसे—निर्विकल्प होकर माध्यस्थ्य भावों का आलम्बन, 'ओं' पंचपरमेष्ठी की स्तुति एवं स्वरूपचिन्तन आदि (नाम, स्थापनादि से परमेष्ठी का ध्यान करे। इसमें पिण्डस्थ, पदस्थ तथा आग्नेयी आदि धारणाएँ क्रमशः उद्दीग्नित करे—ज्ञाना०, ३७.१०-११, १५)। इसे इस प्रकार कहा जा सकता है कि ध्याता आत्मप्राप्ति के लिए सविकल्प ध्येयों के माध्यम से निराकार (रूपातीत) के चिन्तन में लीन होता जाय। इसे ही इन्द्रियलयता एवं रयि की एकड कहा गया है (ऋग्वेद ६.३१.१)। यह ऐसी स्थिति है जहाँ सिर्फ 'वह' ही है (तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि योऽसावसौ परुषः सोऽहमस्मि—ईशावा०-१६; न तत्र चक्षुर्गच्छति केनोप०, १.३; श्वेता०, १.११; जैनमतानुसार ज्ञान, ज्ञेय, ज्ञायक एक मात्र आत्मा) और यही ध्यान सर्वश्रेष्ठ है। जैन परिभाषा में यह निर्विकल्पक ध्यान है (परमात्म०, १५६) और इसके समक्ष यज्ञादि कर्मों का फल हेय है। अग्नि-पुराण (१५.१४) में भी इसी मत को प्रतिपादित किया गया है।

**ध्यान का फल :** ध्यान का फल मोक्ष कहा गया है।<sup>१</sup> अर्थात् ध्यान से कर्मों की निर्जरा होने के कारण आत्मा मुक्त हो जाती है। अनादिकाल से योगसाधना का लक्ष्य मोक्षप्राप्ति रहा है। दूसरे शब्दों में, जीवात्मा संसार के कारणों का समूल विच्छेद करने के लिए उपाय करती रही है और ध्यान-योग उन उपायों में अतीव है। जो ध्याता शुक्लध्यान की स्थिति तक न पहुँच कर धर्मध्यान की सरूरी साधना करते हैं उन्हें स्वर्गफल की प्राप्ति होती है।



१. तत्त्वानु०, १२६; तद्धानं निर्जराहेतुः संवरस्य च कारगम् ।—वही, ५६. ध्यानः अभ्यासप्रकर्षेण त्रुटयन्मोहययोगिनः । चरमाऽङ्गस्य मुक्तिः स्यात्तदेवास्यस्य च क्रमात् ॥—वही, २२४; ध्यानशतक, ५; योग-विशिका, प्र० २०; ध्यानमेवावर्गस्य—ज्ञाना०, २५७; धम्मपद, २.३; यदि शीलसम पापं भिद्यते ध्यानयोगेन—ध्यानविन्दूप०, १; ब्रह्मविन्दूप०, ३; (स्वात्मलाभ)—तमेवभान्तमनुभाति सर्वस्यभासा-सर्वंमिदंविभाति—श्वेता०, ६. १४.

# प्राचीन भारत में अपराध और दण्ड

डा० प्रमोदमोहन पाण्डेय

जैन साहित्य भारतीय साहित्य का एक महत्वपूर्ण अङ्ग है। इसमें न केवल एक धार्मिक विचारधारा ही दृष्टिगोचर होती है अपितु प्राचीन भारत के सामाजिक एवं राजनैतिक जीवन की भी सुन्दर झलक मिलती है। प्रस्तुत लेख में जैनागमों के अङ्गसाहित्य पर आधारित प्राचीन भारत के अपराध एवं दण्ड का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

अपराध सामान्यतः दो भागों में विभक्त किये जा सकते हैं—१. राजा या राजपुरुषों के प्रति किए गए अपराध तथा २. सामान्य जनता के प्रति किए गए अपराध।

राजा या राजपुरुषों के प्रति किए गए अपराध गम्भीर माने जाते थे। इसका प्रमुख कारण यह था कि उस समय राजा का एकच्छत्र राज्य रहता था। यदि कोई व्यक्ति राजा या राज्य की प्रतिष्ठा तथा प्रभुसम्पन्नता को क्षति पहुँचाता था तो उसे मृत्यु-दण्ड ही दिया जाता था। इस प्रकार के अपराधों में निम्नलिखित अपराध प्रमुख थे :

(१) अन्तःपुर से सम्बन्ध : यदि कोई व्यक्ति राजा की रानी या रक्षल से शारीरिक सम्बन्ध करते हुए देखा लिया जाता था तो उसे तुरन्त नाना यातनाओं के साथ प्राण-दण्ड दे दिया जाता था। ऐसे व्यक्ति की पहले तो खूब पिटाई होती थी,<sup>१</sup> फिर उसके नाक-कान काटकर उसके शरीर को तैल से लिप्त कर दिया जाता था।<sup>२</sup> कनेर के फूलों की माला उसे पहना दी जाती थी।<sup>३</sup> उसके शरीर का मांस काट-काट कर उसे ही

१. अट्टिमुट्टिजाणुकोप्परपहारसंभग्महियगत्तं ।

—विवागसुयं (त्रैच), पृ० २४.

२. उक्किक्तकण्णनासं नेहतुप्पियगत्तं... ।—वही, पृ० १७.

३. कण्ठेगुणरत्तमल्लदामं... ।—वही.

खिलाया जाता था<sup>४</sup> और अन्त में चौराहों पर सभी लोगों की उपस्थिति में उसके अपराध को बताया जाता था ।<sup>५</sup> तब कहीं वधस्थल पर ले जाकर उसे मृत्यु-दण्ड दिया जाता था । उदायन राजा की रानी के साथ अनुचित सम्बन्ध स्थापित करने पर बृहस्पतिदत्त को तथा विश्वामित्र राजा की रखैत्र कामध्वजा गणिका से सम्भोग करने से उज्ज्वतकुमार को इसी प्रकार की यातनाओं के साथ मृत्यु-दण्ड दिया गया था ।<sup>६</sup> यदि किसी अमात्य या अन्य राजपुरुष की पत्नी से कोई अनुचित सम्बन्ध रखे तो वह अमात्य या राजपुरुष अपराधी व्यक्ति को विविध यातनाओं के साथ मृत्युदण्ड देता था किन्तु इसके लिए अमात्यादि को राजा की अनुमति प्राप्त कर लेना आवश्यक था ।<sup>७</sup>

(२) चौर कर्मा : यह अपराध उस समय का सबसे भयंकर अपराध था । इसका मुख्य कारण यह था कि इसे करने वाले निर्दयी एवं रीढ़ स्वभाव के होते थे ।<sup>८</sup> इनका निवासस्थान ऐसी जगह होता था जहाँ

४. वज्रपाणयिं तिलतिजं चैत्र छिज्जमाणं कागणिमसाइं खावियत्तं ..... ।  
—वही, पृ० १८.

५. अणेगनरनारीसंपरिवुडं चच्चरे चच्चरे खण्डपडहएणं उग्घोसिज्जमाणं... ।  
—वही.

६. (क) इमं च णं उदायणे राया.....बहस्सइदत्तं पुरोहियं पउमावईदेवीए सद्धि भोगभोगाइं भुज्जमाणं पासइ, पासिता आसु रूत्ते तिवलियं भिउडिं निडाले साहट्टं, बहस्सइदत्तं पुरोहियं .....वज्जं आणाविए ।  
—वही, पृ० ४४-४५.

(ख) इमं च णं मित्ते राया उज्जियए दारए कामज्जयाए गणियाए सद्धि..... वज्जं आणावेइ । —वही, पृ० २४.

७. एवं खलु, सामी, सगडे दारए ममं अन्तेउरंसि अवरद्धे । तए णं से महचन्दे राया सुसेणं अमच्चं एवं वयासी—तुमं चैव णं, देवाणुप्पिया, सगडस्स दारगस्स दण्डं वत्तेहि । तए णं से सुमेणे अमच्चे महचन्देणं रत्ता अब्भणुत्ताए..... वज्ज आणवेइ ।—वही, पृ० ४१.

८. हर्णाद्धिदभिदवियत्तए.....लोहियपाणी रूद्धे..... । —वही, पृ० २६.

राजा के सिपाहियों तक को पहुँचना कठिन रहता था।<sup>९</sup> फलतः इन्हें शासन का भय नहीं रहता था। इनकी अपनी सेना होती थी जो आवश्यकता पड़ने पर राजा की सेना से लोहा लेने में भी नहीं चूकती थी। इन्हें बागी कह सकते हैं। ये चोर राजा की प्रभुसम्पत्तियों को खुनी चूनीते थे। अतः इन्हें भी राजा कठोर यातनाओं के साथ प्राण-दण्ड देना था। अभग्नमेन शालाटवो नामक चोरपत्नी में रहनेवाला चोरों का मेनापति था। उसे पकड़ने के लिए जब राजा ने अपने सिपाहियों को भेजा तो वे पराजित होकर वापस आ गये।<sup>१०</sup> तब राजा ने उसे पकड़ने के लिए कूनीति का सहारा लिया और पकड़े जाने पर उसे कठोर यातनाओंपूर्वक प्राणदण्ड दे दिया।<sup>११</sup>

(३) राजा के विरुद्ध षड्यन्त्र : जब कोई व्यक्ति राजा को मारने आदि का षड्यन्त्र रचता था तब भी राजा उसे प्राणदण्ड देता था। उस समय राजा षड्यन्त्र की रचना करनेवाले की स्थिति पर जरा-या भी ध्यान नहीं देता था। श्रीदाम राजा ने अपने विरुद्ध षड्यन्त्र करने पर अपने ही पुत्र नन्दिसेन को प्राणदण्ड दिया।<sup>१२</sup>

(४) राजा की आज्ञा की अवहेलना : राजा इन्द्र-महोत्सव, कौमुदी-महोत्सव आदि अवसरों पर सभी लोगों को महोत्सव में शामिल होने की घोषणा करता था। यदि ऐसे अवसर पर कोई व्यक्ति बिना किसी विशेष कारण के सम्मिलित नहीं होता था तो उसे भी प्राण-दण्ड दिया जाता था। यद्यपि किसी महोत्सव में सम्मिलित न होना इतना गम्भीर अपराध नहीं था कि अपराधी को मृत्युदण्ड दिया जाय किन्तु राजा अपनी

९. अडवीचोरपत्नी होत्या विसमगिरिकन्दरकोलम्ब संनिविट्टा वंसीकलङ्क-  
पागारपरिक्खत्ता.....। —वही, पृ० २६.

१०. नो खलु से सकका केणइ सुबहुण्णावि आसबलेण वा हत्थिबलेण वा  
.....गिण्हत्तए । —वही, पृ० ३४.

११. वही, पृ० ३४-३७.

१२. तए णं तुमं.....सिरिदामस्स इत्तो.....गीवाए खुरं निवेसेहि ।.....  
सिरिदामे राया.....नन्दिसेणं कुमारं... ..वज्जं आणवेइ ।

—वही, पृ० ५०.

आज्ञा की अवहेलना को अपना अपमान समझकर ही प्राण-दण्ड जैसे कठोर दण्ड को देता था ।<sup>१३</sup>

संक्षेप में कहा जा सकता है कि जब किसी व्यक्ति के आचरण से राजा की प्रतिष्ठा को आंच आती थी तो राजा उसे प्राणदण्ड दे देता था । कभी-कभी निर्दोष व्यक्ति भी राजा की सनक या शंका के कारण अपने प्राण खो बैठते थे । राजपुरुष, अमात्य आदि भी समाज में पर्याप्त प्रभावशाली होते थे क्योंकि किसी व्यक्ति को दण्डित करने की छूट वे लोग राजा से सहज ही में प्राप्त कर लेते थे । चूंकि राजा या राजपुरुष, अमात्य आदि की अप्रसन्नता प्राण ले लेती थी, अतः साधारणतया व्यक्ति ऐसा कोई काम नहीं करता था जो राजा, अमात्य आदि को अप्रसन्न कर दे और उसे अपने प्राणों की आहुति देनी पड़े ।

(५) सामान्य जनता के प्रति किये गये अपराध : इस प्रकार के अपराध उतने गम्भीर नहीं माने जाते थे क्योंकि ऐसे अपराधों से राजा की प्रतिष्ठा एवं प्रभुसम्पन्नता की हानि नहीं होती थी । अतः राजा प्रजा के प्रति कर्त्तव्य निभाने के लिए ही ऐसे अपराधों को रोकता था । ऐसे अपराधों में राजा तभी हस्तक्षेप करता था जब प्रजा उसे अपनी दुःख की कहानी सुनाती थी । अधिकांश अवसर्ों पर नगर-रक्षक ही सीधी कार्यवाही कर लेते थे । इस प्रकार के अपराधों में कुछ उल्लेखनीय अपराध इस प्रकार हैं—१. चोरी, २. परस्त्रीगमन, ३. गंठरुतरन, ४. राज्यापकार, ५. ऋण का भुगतान न करना, ६. बालकों की हत्या, ७. विश्वासघात, ८. जुआ खेलना, ९. धूर्तता ।<sup>१४</sup>

उक्त अपराधों को करने वाले व्यक्ति को कारागार में डाल दिया जाता था । कारागार में व्यक्ति को तरह-तरह की यातनायें दी जाती थीं । अगर जेलर दुष्ट होता था तब तो वह ऐसी भयंकर यातनायें देता था जिन्हें सुनकर आज भी मनुष्य को रोमांच हो उठेगा । सिंहपुर नगर में दुर्योधन नामक दुष्ट जेलर कैदियों को सीधा लिटवाकर लोह-दण्ड से उनके मुख खुलवाता था तथा गर्म तांबा, रांगा, सीसा, हाथी-घोड़ों का

१३. जैनागम साहित्य में भारतीय समाज, पृ० ८७.

१४. चोरे य पारदारिए य गण्ठिभेए वा रायावयारी य अणहारए य बालघायए य विसम्भघायए य जूयगरे य सण्डपट्टे य ...

मूत्र उन्हें पिलवाता था। हाथ पैर कटवाना, वेणुलता से पिटवाना, सिर नीचे पैर ऊपर करवाकर गड्ढे में से पानी पिलवाना, तलवार से विदारण करवाना, हथेली, घुटने तथा पैरों के जोड़ों में कीलें जड़वाना आदि यातनायें देने में दुष्ट जेलर को जरा-सा भी भय नहीं होता था।<sup>१५</sup> जेल में धनी-गरीब, प्रतिष्ठित-अप्रतिष्ठित व्यक्तियों के प्रति बिना किसी भेद-भाव को दिखाये सजा दी जाती थी। जेल से व्यक्ति तभी छुटकारा पाता था जब राजा को छुटकारा दिलाने के लिए धन दिया जाय तथा मान्य व्यक्तियों द्वारा सिफारिश कराई जाय।<sup>१६</sup> जब राजा को खुशी का अवसर आता था तब भी खुशी में राजा कैदियों को मुक्त कर दिया करता था।<sup>१७</sup>

इस प्रकार प्राचीन भारत में अपराधों के लिए इतने कठोर दण्ड दिये जाते थे कि कोई व्यक्ति सरलता से अपराध नहीं करता था। जो व्यक्ति आवारा एवं बुरी संगति में पड़ जाता था तथा उसे सभ्य समाज में उचित स्थान का अभाव हो जाता था, प्रायः वही व्यक्ति अपराध क्रिया करता था।

१५. वही, पृ० ४८-४९.

१६. घणे सत्थवाहे अन्नया कयाइं :मित्तनाइनियगसयणसंबंधिपरियणेणं सएण य अत्यसारेण रायकज्जाओ अप्पाणं मोयावेइ.....।

—नायाधम्मकहाओ, पृ० ५६.

१७. चारगपरिसोहणं करेह .....। —नाया०, पृ० २०.

# विश्वेश्वरकृत शृंगारमंजरी-सट्टक का अनुवाद

डा० के० आर० चन्द्र

( गतांक से आगे )

और भी :

बर्फ का समूह भूमी और अरणि में रहने वाली अग्नि के समान, (उद्यान वी) जलनालियाँ कामदेव की नागिन लूरी लताओं (विष-वल्लरियों) के समान, हिमकण तप्त बालू की तरह दुःसह और (शीतल) वायु-पुंज अग्नि में से निकलने वाली लौ की प्रभा के समान हो गया है ॥११॥

इस प्रकार कामदेवता और महारानी के आचरण से बहुत दुःखी होती हुई, बड़े भारी प्रतिबंध के कारण प्रिय-प्राप्ति को दुर्लभ मानकर और ऐसी अवस्था का (दुःख का) प्रतिकार मृत्यु के सिवाय अन्य उपाय से असंभव समझकर (शृंगारमंजरी ने सोचा कि) इस प्रकार के हजारों कष्ट अनुभव कराने में निमित्त बने हुए इस दुष्ट शरीर से अब बस हो गया, इसको समाप्त करने से ही दुःख का अंत कर सकूंगी ।

और भी

अपराध रहित होते हुए भी मेरे वध से कामदेव कृतकृत्य हो, उसके धनुष से प्रत्येक उतर जाए और महारानी का शुभ हो ॥१२॥

सो हे प्रिय सखि ! यदि मुझ पर तेरा कोई भी विशेष स्नेह है तो अपने दुःख-निवारण के लिए योग्य कार्य करने से मुझे मत रोक । मैं इस लता के वेष्टन से फाँसी लगाकर अपने देह को प्राण-रहित करना चाहती हूँ । अब क्षण भर भी दुःख का

अंतर (अवधि) सहन करने से क्या (लाभ), ऐसा मुझे कहकर वह उस प्रकार करने लगी। तब निरन्तर बहते हुए अश्रुजल के प्रवाह से मेव के समान श्याम बने हुए मुख से मैंने कहा, हे सखि ! मेरी सलाह से कुछ समय के लिए ऐसा आग्रह मत करो। पुनः यदि मेरी उपेक्षा करके ऐसा ही करने का आग्रह करोगी तो पहले मुझे अपने प्राण त्याग करने दो, जिससे तुम अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकोगी। उसके पंरों में पड़कर इस प्रकार कहते हुए किसी-न-किसी प्रकार उसी समय उसे उस काम से रोका गया। इन दिनों न वह किसी के साथ बोलती है, अपने मुख मंडल को घूँघट से ढके रहती है, सभी कार्यों से विरत रहती है और अग्निकुंड में गिर गयी हो उस प्रकार रहती है। हमारे द्वारा आश्वासन दिये जाने पर कि आज फिर उद्यान के माधवी मंडप में महाराज की भेंट होगी और काम की प्रबलता तथा आशाखी बंधन का त्याग करने की असमर्थता के कारण उसने 'अच्छा' ऐसा कहकर स्वीकार कर लिया।

यदि महाराज के हृदय में कुछ भी दया है, गुणों के लिए आदर है अथवा स्नेह है तो उस बेचारी पर अनुकम्पा की जाए ॥१३॥

और भी प्रिय सखी ने मुझे इस प्रकार बहुत कुछ बातें कहीं। उसकी बात समाप्त होने पर मैं यहाँ आया हूँ।

बन्दी बने हुए, दांत गिरे हुए (वृद्ध) और इन्द्रियों से शिथिल बने हुए लोग प्राणत्याग नहीं करते, परन्तु दोषारोपित और दुःख से पीड़ित लोगों के साथ ऐसी बात नहीं है ॥१४॥

(नेपथ्य में)

संख्याकाल प्रकट हो गया है। ऐसे समय में जनाघिन (वहग) और देवाधिप (इन्द्र) के दिशा-मुव अर्थात् पश्चिम और पूर्व दिशा क्रमशः प्रकाशित और मलीन हो रही हैं। (चन्द्र-विकासी) कुमुद खिल रहे हैं और (सूर्य-विकासी) पद्म बन्द हो रहे हैं। ऐसे पद्मावली-कानन में यह संख्या समय

चक्रवाकी-प्रतिकूल और अभिसारिका-अनुकूल ही रहा है, जो आनन्दप्राप्ति (कामक्रीड़ा) के लिए क्रमशः चक्रवाकी का अपने प्रिय से वियोग करवाता है और अभिसारिका का अपने प्रिय से मिलन करवाता है ॥१५॥

विदूषक— (सुनकर) मित्र, विलम्ब मत करो। तुम्हें मिलने की तृष्णा से संकेत-कुञ्ज में आयी हुई वह अपने प्रियजन को प्राप्त न करने से कहीं प्राण-त्याग न कर दे ॥१६॥

राजा— तो संकेत (स्थल) का मार्ग दिखाओ।

विदूषक— राजन्, आप इधर से इधर से, आइए। (दोनों परिक्रमा करते हैं।)

राजा— (देखकर)  
अर्द्धखिली और अर्द्धसंकुचित मुद्रा को प्राप्त पद्म के बीच में से एक साथ निकलने वाली भ्रमर-पंक्ति पद्माकृति वाली मंजूषा के मध्य भाग में से निकाली गई सुन्दर (उज्ज्वल चंपक की) माला के समान लगती है ॥१७॥

और भी

(नील कमल की) पंखुड़ियाँ एक दूसरे के सम्मुख और (पद्म कमल की) पंखुड़ियाँ एक दूसरे से विमुख होकर सूर्य की किरणों के तेज (रंग) से चमक रही हैं। दोनों ही सभ्या के समय पद्मों और कुमुदों की अवस्था एक समान हो जाती है ॥१८॥

विदूषक— मैं भी अपने योग्य कहता हूँ।

खिलती हुई कमल की पंखुड़ियाँ सूर्य की किरणों के स्पर्श से, (मित्र के हस्त स्पर्श से) वंचित हो जाने के कारण टंडरु पाने की (सांत्वना पाने की) तृष्णा से एक दूसरे से मिल (आलिंगन कर) रही हैं ॥१९॥

राजा— (देखकर) यही उद्यान क्षेत्र है। यहाँ पर ही—

प्रायः (लटकते हुए) पके फणसों वाले ये उजाड़ रास्ते स्मृति-पट पर पताकाओं की माला का दृश्य उ पस्थित कर रहे हैं ॥२०॥

अन्य भी,

अति घने तमाल वृक्ष, ताली वृक्षों के समूह तथा मुनि वृक्षों के समूह सकल जगत् के अन्तरक्षेत्रीय विस्तार को आच्छादित करने वाले निविड अन्धकार समूह के उद्गादन में भागीदार (अंश) हो ऐसी मन में कल्पना हो रही है ॥२१॥

विदूषक—

(आगे चलकर) वनदेवों के अनापुर रूरी इस कुंज में नूपुरों की आवाज का अनुकरण सहसा हँसों के द्वारा किया जा रहा हो ऐसा सुनाई देता है ॥२२॥

राजा—

(थोड़ा-सा आगे चलकर) मित्र, देखो तो, फूलों का कवच पहने ये चम्पक-वृक्ष-समूह बीव में भड़कती अग्नि के समान चमक रहे हैं और दोनों बाजू खड़ी यह तमाल-माला मानो सर्वप्रथम जली हुई (काली) पृथ्वी के समान हो, अथवा प्रथम बार (प्रातःकाल) देखी गयी पृथ्वी (अथवा प्रथम बार जोती गई धरती अथवा प्रथम बरसात से काली बनी धरती) के समान मालूम होती है ॥२३॥

विदूषक—

(आगे देखकर)

सुगन्ध-लोभी मधुकुरों से आच्छादित चपकों की कतार मानो फँलते हुए गाढ़ अन्धकार के साथ रत्न-राशि में से (निकलते हुए) तेज (प्रकाश) के अंकुरों (किरणों) के समान शोभायमान हो रही है ॥२४॥

राजा—

(चारों तरफ देखकर) ओह! अन्धकार बहुत बढ़ गया है। तभी तो—

सूर्यास्त के कारण असहाय बने हुए नेत्रेन्द्रिय अर्थात् नेत्र-दृष्टि हमारे द्वारा आगे चलते-चलते क्रमशः घटती जाती रही है जो अति गाढ़ अन्धकार के फँल जाने के कारण सामने के क्षेत्र के प्रतिक्षण संकुचित होने के समान है ॥२५॥

विदूषक—

(चलते-चलते रुक जाने का अभिनय करके)

वृद्धावस्था के कारण हमारे नेत्रेन्द्रिय कमजोर हो गये हैं, इस गाढ़ उपवन में दिन को भी घूमना मुश्किल हो गया है तो अति गाढ़ अन्धकार से पीती जाती दिशाओं के कारण चरण-क्रम रचने में (चलने में) शक्तिमान कसे हो सकता हूँ ? ॥२६॥

राजा— अनेक बार आवागमन किया जाने के कारण मार्ग के सम और विषम स्थल जाने हुए ही हैं अतः कदम रखने के स्थलों का (सही रास्ते का) अनुमान करके धीरे-धीरे आगे बढ़ो ॥२७॥

विदूषक— सैंकड़ों बार परिचित बने मार्ग की आज के कार्य को ध्यान में रखकर (दिन के अस्त हो जाने के कारण) मैंने उपेक्षा की है, परन्तु भावी प्रयोजन की विवशता के कारण आपको इसके प्रति आदर हो रहा है ॥२८॥

राजा— (आगे देखकर) मित्र, संकेत-मंडप तो पास में ही है । अच्छा हुआ कि पहले से ही तेरी आँखें अन्धी नहीं ही गयीं ।

विदूषक— जैसा प्रिय मित्र को अच्छा लगे । (दोनों बँठ जाते हैं ।)

राजा— इस जगत् ने मानो ऊपर उठकर काजल के पर्वत में गंठा लगाया हो, उस कारण काजल के फँस जाने से मानो यह जगत् उससे अत्यधिक भर गया और उसी समय यह जगत् नेत्रेन्द्रिय से ओझल हो गया अर्थात् निविड़ अन्धकार फँस गया ॥२९॥

विदूषक— सब लोगों की आँखें बन्द होने पर उल्लू की आँखें खुलती हैं । निस्संग प्रव्रजित होने पर और निर्जन (वन) में समाधि लगाने पर ज्ञान की प्राप्ति होती है ॥३०॥

( क्रमशः )

# Jain Mysticism

Prof. U. A. Asrani

## 1. Introduction :

Time is ripe for a Synthetic or Integral View of Yoga or Mysticism. Man is one; his mental problems are the same everywhere. How could Yoga or Mysticism be of different types, except to suit different temperaments, but with a Common Goal; that of perfect Mental Felicity, Efficiency, Creativity, and psychological Maturity—a maximal evolution of the physical, the mental, the emotional, the moral and the spiritual potentials of man. Even in the affluent west, man is not happy; perhaps more unhappy. So he is groping for that Integral Yoga or Mysticism, shorn of all transcendental, doctrinal, or philosophical differences, which separate different mystic schools from one another. He wants perceptible benefits, here and now; not in some unknown hereafter. India with its hoary traditions of Mysticism, extending over some thousands of years, of Hindu Yoga types, as well as non-Hindu mystic schools, should now come forward to supply that Synthesis. Great scholars, like William James, Aldous Huxley, Dr. S. Radhakrishnan etc. have proclaimed that top mystics speak the same language, irrespective of the age they lived in, or the religious creed they followed. But we have yet to delineate the Common Goal of all the Top Mystics, in non-philosophic common terms; and we have yet to justify its efficacy, on the basis of Modern Knowledge, Modern Psychology.

The world has produced great spiritual Giants, in every age; geniuses who surveyed the needs of their times, and gave a message to mankind. In effecting a Synthesis, we will have to remember, in spite of our great reverence for their genius, that each of them was after all a man, groping

for the Goal, suitable to his times. We will have to read history afresh, as if it were a Laboratory Notebook of Mankind, and note the mistakes and pitfalls, which man has encountered in his gropings. Thus only can we get a Synthesis of Great Minds that have gone ahead; thus only can we present to the modern man a serviceable channel of spiritual activity for reaching his Goal. Spiritual Enlightenment is available to man today quite as well as in the past. Spiritual Geniuses of the highest level keep on springing within humanity to this day. Modern Scientists are at present forging rapidly ahead, in their researches into states of consciousness. Research on L. S. D. and other psychedelic drugs has shown that Visions of mystics, even the Unity type of their intuitions, can be supplied by these drugs to any man, at least for a little while, with beneficial results under expert guidance. Miller has shown that voluntary control over internal states, the boasted merit of Hatha Yoga, can be taught to animals by Pavlov's conditioning method. Recent research on the essence of Marijuhuana has indicated another possibility of artificial control over those internal states and even of artificially controlled hibernation—the great miracle of Hatha Yogis (Pioneer, 3. 12. 72). Biofeedback psychologists of U. S. A. are training young men very rapidly by electric gadget-aids, in Mental and Emotional Relaxation, which is akin to Nirvikalpa State of Jain Yoga. Books like 'Highest States of Consciousness' by J. H. White are selling like hot cakes in U. S. A., and there is a Journal of 'Transpersonal Psychology' there. We here keep on still hugging to Transcendental and after-life benefits, or to evaluating our own yogic creeds as superior to all others, on the basis of such benefits. We will be left terribly behind times very soon, if we fail to synthesise all Yoga systems and fail to take a more pragmatic, down to earth and down to life, scientific view of what Yoga or Mysticism does for man.

Miracles or Siddhis are a blind alley in spirituality; they are not spiritually proper, helping man in his biological survival. Histories of mystic nations like India and Tibet have shown their ineffectiveness against brute force. Even voluntary control over internal states should not be valued, merely because it is a glamorous and unusual physical feat; it should be evaluated according to its effectiveness in building up a better mankind and a more stable human society capable of surviving the huge risks of modern culture. Are not the feats of modern Science and Technology equally glamorous ?

The accompanying critical and comparative treatment of Jain Mysticism is being attempted for presenting its peculiar merits and its special contributions to a Synthesis of All Mysticism—regarded as a Science of the Evolution of Human Personality. The points of contact with other schools of mysticism will be specially noted. A few points, where, in the opinion of the writer, the mystics of this school have laid an exaggerated or mistaken emphasis, will also be critically examined.

## 2. Jain Mysticism :

( a ) **History** : In old Buddhist Texts, six different mystic Schools are mentioned. One of them is that founded by Nigantha Nataputta, better known as Mahavira. This School is known as Jainism ( i. e. The Creed of the Followers of Jinas—the Conquerors of Self—The Creed of the Worshipers of Ideal Men as their Heroes ). According to Buddhist Texts Mahavira is reported to have propagated the fourfold Vow : 1. To be free from all passions and desires; 2. To get rid of all ideas of possession; 3. To keep aloof from all kinds of traffic, i. e. not to use any conveyance; 4. To remain absorbed in the knowledge and Meditation of the self.

Thus Jainism is older than Buddhism. The great propagating mystics of this school, called the Jinas or Tirthankarás, are expected to be born and to appear in society, whenever

the exigencies of the evolution of society demand it, in order to solve the vital problems of the age. Rishabha Deo, the great Jain Law-Giver, was the first, according to the Jains, in the present Cycle of Time (Yuga). Mahavira, who finally codified and systematised the Jain Doctrine,<sup>1</sup> was the twentyfourth and the last. He strongly denounced Brahmanic rituals and bloody sacrifices. All the Jain Tirthankaras were monarchs to start with; they renounced and preached later. The first 21 may be mythological; but the last three were historical figures. The 22nd, Nemi Natha, was a cousin of Shri Krishna.<sup>2</sup>

Buddhism as well as Jainism is in fact reformist creeds, which developed from the growth of Hinduism or Brahmanism. Instead of insisting on social classifications or castes and on the four stages of life, as Brahmanism did (Varnashrama Dharma), these reformist cults emphasised the Individual aspects. Buddhism laid stress on the psychological needs of man, his Duhkha—unhappiness—and its elimination; while Jainism emphasised Right Action or Morality for evolving a Perfect Character or Personality.<sup>3</sup> Thus both are essentially not mere Creeds or Religions, but Mystic Schools. Mahavira reformed and made saints of untouchables, dacoits and murderers. Under his guidance, Chandan Bala and many other ladies attained to Moksha. He regarded man and woman to be equal. The remembering of one's past errors or mistakes, almost as a periodical ritual as well as the Jain festival of Paryushana, is really great ethical landmarks for evolving humanity.<sup>4</sup>

**(b) Techniques :** According to Jain literature the two main stages of mystic life are : (1) Tapa, i. e. Austerity; (2) Dhyana or Meditation. The latter again has four stages. The last two—Dharma and Shukla—are said to eliminate

1. Indra Chandra Shastri, Jainism in Nutshell, pp. 12-15.

2. Ibid., pp. 8-9.

3. Ibid., pp. 1, 13, 15 etc.

4. Ibid., pp. 21-23.

'Tamas' (indolence) and 'Rajas' (Stimulation or Tension), and thus lead to 'Sattwa' (Equilibrium) and to 'Moksha' (Liberation). The methods of meditation are given in the Texts— Samradhi Shataka, Dhyana Shataka, Dhyana Vichara, Dhyana Dipaka etc. All these are later texts and give detailed information. The original sources on this subject are : 'Tattwartha Sutra', 'Jiva Kanda' etc.

The Jain mystic discipline has three aspects : 'Shraddha' (Faith), 'Rahasya Jnana' (Knowledge of esoteric doctrine), and 'Charitra Shuddhi' (Purity of Ethical Conduct). Right Outlook on life, Right Knowledge and Right Conduct are the three guiding lines for Jains for the elevation of personality.<sup>1</sup>

There are fourteen Guna-Sthanas or moral-cum-spiritual stages of Jain mystic discipline. It is explicitly stated that a householder can cross only the first five, the rest can be achieved only in the abstinent and celibate life of an ascetic called 'Muni' in Jain literature. The sixth and the seventh are 'Pramatta' (Deluded) 'Apramatta' (Undeluded). A Muni may vacillate in these two for a life time, or even in several successive lives; but once he crosses over to the eighth, the progress is rapid; all the remaining ones may be covered even within a few minutes.<sup>2</sup> Passions are controlled at the eighth stage; perfect purity of mind is attained at the ninth; and self-interest is eliminated at the tenth. All delusion-cum-attachment—Moha—is suppressed at the eleventh; this suppression may lead to a votary's downfall. Hence the fortunate votaries by-pass this stage, and eliminate all 'Moha' (attachment) without suppression (may

---

1. Tattwartha Sutra, 1. 1.

2. Tattwarth Sutra, I. 8 says that one 'muhurta', i. e. 48 minutes, is normally the maximum period, but it may take only an instant. The case of King Bharat, son of Rishabha Deo, is cited as an example of the latter type of rapid progress.

be by relaxation, as in Sahaja Jnana Yoga), at the 12th stage directly.<sup>1</sup> At the thirteenth stage, a Jain votary shines out as a Teacher, perfect in knowledge and detachment, with all the consequences of past Karmas, set entirely at rest. He becomes a Kevalin or an Arahant.<sup>2</sup> At the fourteenth stage, the mortal sheath of the body is set aside for good, and he becomes a 'Siddha'.<sup>3</sup>

According to some scholars Jain Sadhana (mystic effort) consists chiefly in moral and ascetic practices, supplemented by the worship of Jinas or Supermen.<sup>4</sup> This however appears

1. An example is given in the Jain Texts. You can by strong willed Sadhana suppress the impurities of the mind; but they may remain like mud, at the bottom of a vessel of turbid water, after it has settled. The least agitation will bring the mud up again into the water. A Sadhaka, who thus suppresses the impurities of his mind, upto the 11th stage, is sure to fall. A wise Sadhaka therefore eliminates impurities from the mind without suppression. He looks upto the 11th stage, like the suppressing Sadhaka but is actually superior. He by-passes the 11th stage, and jumps directly from the 10th to the 12th. Just as the dirt of turbid water can be eliminated by the plant 'Nirmali', so he has alternative methods of eliminating the impurities of the mind (Jiva Kanda, Gatha 61). A similarity with the Complexes buried in the Unconscious according to Modern Psychology, and the risks suppressing them is obvious.
2. Arahants are Perfected Beings. (In Buddhist literature, they are called 'Arahats'). Some of the Arahants later become Sage Preachers or Propagators of the Jain doctrine. It is they that are called 'Tirthankaras' by the Jains.
3. Kalyan, Yoga Volume, 1935, pp. 185-236, 290-292. Compare also 'Darshan Aur Chintan' by Pt. Sukh Lal (Hindi), and Souvenir of Third World Religions Conf., Delhi, 1965, pp. 6-15.
4. Sadhu Santi Nath, Sadhana, p. 15.

to be too narrow a view based only on the current practices in the Jain communities, and on the initial stages of Jain mystic discipline; for the same author admits that the Jains believe that attachment to and enjoyment of, worldly objects, obstruct the upward evolution of the self. Surely there must be some higher stages of mystic discipline to achieve such a non-attachment. This author fails to mention them. They are : 1. 'Swadhyaya', i. e. Study of mystic texts, and 2. 'Dhyana', i. e. Meditation. The latter is an essential part of the higher practices. I. C. Shastri<sup>1</sup> puts it as a daily routine practice called 'Kavotsarga' (literally—the renunciation of the body). Possibly Jain meditations, like those of Hindu Jnana Yogis, were carried to the Nirv-vikalpa stage (similar perhaps to the 'Sunva' of Buddhist meditations, and 'Silence' of Christian meditations), where the meditator forgets entirely himself and his body. Walther Schubring also confirms : The Jains have their meditations (Jhana), leading to Liberation, provided they are 'pious' and 'pure'<sup>2</sup>. The main Sadhana for Salvation is therefore (according to the Jains) Jnana or Self-Realisation. A man, who is thus released, reaches the God-State called Arahantship in Jain literature.

(c) **Parallelism with Jnana Yoga** : This shows how close Jain Yoga is to Jnana Yoga, in its objective and techniques, in spite of differences in philosophy. Jainism is atheistic, while Jnana Yoga is based on Vedanta, which is pantheistic. Again, it is refreshing to find that in conformity with modern psychology Jainism does not advocate 'suppression' or 'repression' of mental drives; it regards such tendencies as a risky pitfall. The mud at the bottom of the mind, like the Complexes of modern psychologists, must be cleared by some alternative process, instead of being suppressed. Jnana Yoga for instance eliminates them by mental relaxation, as in the Nirvikalpa Samadhi. Once they are cleared, liberation—called Jiwan Mukta in Jnana Yoga—becomes an Easy Affair

1. Indra Chandra Startri, op. cit., pp. 21-22.

2. Doctrines of the Saints, p. 313.

(Jnana Yoga calls it 'Sahaj' or Easy or Natural),. That is what evidently happened in the reported story of King Janaka, in Jnana Yoga, and that of Bharat, the son of Rishabh Deo, in Jain literature.

The final goal of Jain Sadhana appears to be almost the same as that of the Hindu Jnana Yoga or Raja Yoga. The one aim for an ascetic should be to perfect himself in self-control and Knowledge, and to be a Light unto himself and others. This (worldly life) very often makes man a creature of his environment, alternately exalted and depressed, according as the stimuli sustain him or not. But the life of the Yogi (Jain mystic) is different. His whole discipline aims at the conquest of environments. His pride consists in being unshaken by its changes.<sup>1</sup>

Insistence on Right Outlook in Life, Right Knowledge, and on the conquest of environments, as the final target, indicates the general similarity of the Jain mystic Summit with the Sthita Prajna, or the Jiwan Mukta State of Jnana Yoga. The philosophic content of Jain meditations must of course be different, but the Samadhis of these two Yogas, as already referred to, appear to be similar.<sup>2</sup> Some gleanings from authoritative Svetambara Jain scriptures have been supplied by a friend Pt. D. D. Malvania (Institute of Indology, Ahmedabad); others from Digambara Jain Texts<sup>3</sup> have been supplied by another friend, Prof. K. C. Gorawala ( Librarian,

1. Kalyan, Yoga Volume, 1935, pp. 290-92. Cultural Heritage of India, Vol. I, pp. 185-235.
2. Sadhu Santi Nath, Experiments of a Truth Seeker, p. 455.
3. The Jain Munis (originally all 'Digambar, i.e. wearing no cloth at all, not even a loin-cloth) were divided into two sects by the exigency of severe famine, in North India, about 4th Century B. C., and the Digambaras migrated to the South. Those, who remained in the North, relaxed their austerity and became Svetambaras, i.e. white cloth wearers ( See, Bhadrabahucaritra ).

Kashi Vidyapeeth, Varanasi). The characteristics of a 'Stable Personality' or 'A True Brahmana Priest' or a 'Virakta (Renouncing) Personality' etc. given in those gleanings indicate that the final aim of Jain mysticism is the same as that of a Jnana Yogi. The adept or perfect Jain mystic is called an 'Arahant' or 'Vitaraga' (i. e. above attachments), and the characteristics of such a Perfect One given in these gleanings strongly recall those of a Sthita Prajna, or a Jiwan Mukta, given in Hindu texts. Lord Mahavira has said : 'One, who has crossed all desires, crosses all sorrow'. The parallelism with the 'Vasnayama' or 'Vasnaksaya', i. e. elimination of poignant desires, in Jnana Yoga is obvious.<sup>1</sup> The Jains however make a distinction between 'Samya Drishti' (i. e. Unperturbed Outlook on life), which, they say, is something akin to the Sthita Prajna State of the Gita, and the Vitaraga State, which, they say, is akin to the Jiwan Mukta State of the Hindus. The former can be attained, according to them, even in household life, but is incomplete and unstable; the Sadhaka, when disturbed, takes the position of Witness, regarding his Soul to be different from the body. It is only at the 13th Gunasthana that a person can be permanently non-attached—Vitaraga.

**(d) Psychology of Jain Mysticism :** As one meditates, so he becomes. The votary of Jain mysticism, like that of Jnana Yoga, makes a picture of himself, as superior to the frustrating circumstances of life, and a picture of the world, so that it no longer poses any threat to him. The philosophies of the two schools may be different, but the psychological effect produced by them is the same. Gardner Murphy calls such steps as man's subtle psychological defences against frustration.<sup>2</sup> Karen Horney calls such steps as idealised images of oneself for psychological fortification against inner

---

1. Swami Kuvalayananda, *Yogic Therapy*, p. 9.

2. *Personality*, pp. 323-26, 449.

conflicts.<sup>1</sup> Meditations are thus auto-suggestions of a healthy type, saving one psychologically from mental conflicts and perturbations. They are what the modern psychologists call Mechanisms for psychological Adjustment.<sup>2</sup>

A Jnana Yogi calls the world as a 'lila' or Sport of the Cosmic Self or Brahman ; he regards himself only as an Actor on the Stage of Life. Similarly, a Patanjala Ashtanga Yogi, when he reaches the stage of 'Viweka Khyati, i.e. Discrimination, regards himself as the Purusha—an untainted Witness of the Changes in the material world called Prakriti. This type of renaming the World or himself, so as to remove inner conflicts or frustrations, is also recognised by the psychologists as another form of defences. In Jain philosophy also we have similar defensive mechanisms of the psychological type. The Jains believe that Omniscience and infinite bliss is the Essential Nature of every Soul which is consciously modifying itself, so as to work for that goal. This gives confidence, courage and initiative to face the changes of life without being perturbed.

There are two different types of Samadhi or Absorption States at the acme of the two Yogas, Jnana and Patanjala Ashtanga. In Jnana Yoga, the highest Samadhi is 'Nirvikalpa'; and Sankara's Laghuvakyavrtti seems to indicate that this is only a Relaxation of thoughts and emotions, perhaps a relaxation of the Ego as well in deeper shades. In Patanjala Yoga, on the other hand, the lower Samprajnat Samadhi is only a state of deep concentration on an object, instead of deep relaxation ; but in the higher one called 'Nirbij' or 'Asamprajnat' the meditator entirely loses himself in meditation. The state then is almost a coma; pin-pricks produce no effect. The brain-wave pattern of the two types of Samadhi—Nirvikalpa and Asamprajnata—as shown by an

1. Our Inner conflicts, Chap. VI.

2. N. L. Munn, Psychology of Human Adjustment, pp. 353-63.

Electro-encephalograph is different.<sup>1</sup> Walther Schubring says that in Jain meditations also, the meditator entirely loses himself. Any way, even in non-analytical and non-intellectual concentration, the ultimate stage may be a 'Silence', or even an unconsciousness of surroundings, as in relaxation (See, Diekmann's Researches, Austin Rigg's Centre Mass, U. S. A.). Thus in all types of Samadhi, deep relaxation (Jnana Yoga) or deep concentration (Patanjala)—in Jain Yoga it may be either—the Sadhaka gets convinced organically, instead of merely intellectually, that the world is a mere conceptual cobweb, which can be swept aside in Samadhi; it is a map which can be rolled up at will.

The ultimate goal of the two Hindu Yogas as well as that of Jain Yoga is the same—the Jiwana Mukta or the Vitaaga State. It is a psychologically mature, unattached and self-reliant State, not dependent, even on the Guru any longer. It is a tranquil State, yet efficient in action, creative and capable of actualising one's hidden potentialities.

**(e) Some Remarkable Traits of Jainism :** It is remarkable that, in spite of being the oldest reformist mystic cult of Hindu India, Jainism hits at the recent theory Complexes in Psycho-Analysis, and at the serious risks of repressing them. Another remarkable hit of Jainism is the time limit, imposed by it on the duration of meditation or Samadhi—one muhurta, i. e. 48 minutes only for restraining quietist tendencies. The Moksha Shastra (Tattwarthasutra, Chap IX, Sutra 27) says: 1. One who has strong bones joints and veins can alone attain to the highest meditation. 2. The meditation commences with concentration on one thing; ultimately all thought is eliminated, and the meditator, the meditation and the meditated object become one.<sup>2</sup>

(To be continued)

1. Swami Kuvalayanand, Yogic Therapy, p. 78; White, Highest States of Consciousness, p. 3.
2. Compare the Samadhi States of Patanjala and Jnana Yogas. Compare also, W. Schubring, op. cit., p. 313 and Report

3. Duration of the meditation should be within one muhurta. Modern people regard long periods of Samadhi, in spite of the bliss it gives, as producing social apathy and psychological negativeness; it is called Quietism. It is remarkable that Jainism recognised this risk, and prescribed a time limit, even in those early times. After all, Yoga is for life, not life for it. Gaudapada, the Grand Guru of Shankara, gives a similar warning to Sadhakas of Jnana Yoga. Do not get, he says, 'attached, even to the enjoyment of mystic experience.'<sup>1</sup> The bliss of Samadhi is not the final goal, but non-attachment; non-attachment even to that bliss.

---

of the Seminar on Yoga and Para-Psychology, Lucknow, p. 74.

1. Mandukya Karikas, III, 45.



**V A R D H M A N**

**VSM**

**Quality Hosiery Cotton Yarn**

*For*

● **BETTER STRENGTH**

● **ELEGANCE**

● **ECONOMY**

**Exporting Cotton Yarn to Eastern &**

**Western Countries**

★

*Manufactured by :*

**VARDHMAN SPINNING & GENERAL MILLS LTD.**

**LUDHIANA ; : INDIA**

**Gram : "VARDHMAN"**

**Tele : 4801**

**4802**

**FOR**  
**DRAUGHTSMEN AND ENGINEERS**

**REKHA DELUXE**

**DRAWING PENCILS EQUAL TO THE  
WORLD'S BEST**



*Manufactured by :*  
**LION PENCILS PRIVATE LIMITED**  
**'PARIJAT', 95, MARINE DRIVE**  
**B O M B A Y - 2**

## हमारे महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

1. **Jaina Psychology—**  
Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 8-00  
(*Out of Print*)
2. **Political History of Northern India from  
Jaina Sources—**Dr. Gulab Chandra Chou-  
dhary—Rs. 24-00
3. **Studies in Hemacandra's Desinama-  
mala—**Dr. Harivallabh G. Bhayani—Rs. 3-00
4. **Jaina Culture—**Dr. Mohan Lal Mehta—Rs. 10-00
5. **Jaina Philosophy—**Dr. Mohan Lal Mehta—  
Rs. 10-00
१. प्राकृत भाषा—डा० प्रबोध बेचरदास पंडित— ६० १-२०
७. जैन आचार—डा० मोहनलाल मेहता— ६० २-००
८. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग १—  
पं० बेचरदास दोशी— ६० १२-००
९. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग २—  
डॉ० जगदीशचन्द्र जैन व डा० मोहनलाल मेहता— ६० १५-००
१०. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ३—  
डा० मोहनलाल मेहता— ६० १२-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा १५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
११. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ४—  
डा० मोहनलाल मेहता व प्रो० हीरालाल कापड़िया—६० १५-००
१२. जैन साहित्य का बृहद् इतिहास-भाग ५—  
पं० अंबालाल शाह— ६० १५-००
१३. बौद्ध और जैन आगमों में नारी-जीवन—  
डा० कामलचन्द्र जैन— ६० १२-००
१४. जीवन-दर्शन—श्री गोपीचन्द्र धाड़ीवाल— ६० ३-००
१५. यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन—डा० गोकुलचन्द्र जैन—६० २०-००  
(उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत)
१६. उत्तराध्ययन-सूत्र : एक परिशीलन—डा० सुदर्शनलाल जैन—६० २५-००  
( उत्तर-प्रदेश सरकार द्वारा ५०० रु० के पुरस्कार से पुरस्कृत )
१७. जैन-धर्म में अहिंसा—डा० बलिष्ठनारायण सिन्हा— ६० २०-००

—लिखिए—

पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान  
जैन इंस्टिट्यूट  
आई. टी. आई. रोड, बाराणसी-५

**Presrite**

**U. F. & M. F. moulding  
Powders**

**Prescol**

**U. F. synthetic resins**

**Plastic Moulds**

**for injection &  
compression moulding**



**The  
Quality Tag  
Renowned Throughout  
the Country**

Nuchem-3